



## सांविधानिक उदारवाद एवं पारंपरिक नैतिकता: विवाहेत्तर संबंधों पर न्यायिक दृष्टिकोण का अध्ययन

प्रो० अशोक कुमार राय<sup>1</sup>

डॉ० सन्तोष कुमार<sup>2</sup>

ARTICLE DETAILS	सार
<b>Research Paper</b>	
<b>मुख्य बिंदु</b>	
<b>सांविधानिक उदारवाद, पारंपरिक नैतिकता, विवाहेत्तर संबंध, न्यायिक दृष्टिकोण, भारतीय संस्कृति</b>	<p>भारतीय विधि व्यवस्था में सांविधानिक उदारवाद और पारंपरिक नैतिकता के मध्य उत्पन्न द्वंद्व समकालीन न्यायशास्त्र का एक अत्यंत महत्वपूर्ण विमर्श बन चुका है। विशेषतः विवाहेत्तर संबंधों के अपराधमुक्तिकरण के पश्चात यह प्रश्न और अधिक प्रासंगिक हो गया है कि क्या न्यायालयों द्वारा प्रतिपादित सांविधानिक मूल्य भारतीय समाज की सांस्कृतिक और नैतिक संरचना के अनुरूप हैं अथवा उनसे पृथक एक वैचारिक दिशा का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रस्तुत शोध पत्र इसी प्रश्न का विधिक, दार्शनिक तथा सांस्कृतिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसमें आचार्य मिथिलेश नंदनी शरण के विचारों को केंद्र में रखकर यह विवेचना की गई है कि न्यायिक निर्णयों में मानवीय मूल्य, सांस्कृतिक परंपरा और सामाजिक नैतिकता की क्या भूमिका होनी चाहिए। अध्ययन का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि सांविधानिक उदारवाद की सीमाएँ कहाँ तक हैं तथा पारंपरिक नैतिकता को न्यायिक विमर्श में किस प्रकार संतुलित किया जा सकता है।</p>

### प्रस्तावना

भारतीय विधि व्यवस्था का आधार संविधान है, जो न केवल राज्य के शासन का ढांचा निर्धारित करता है, बल्कि समाज के नैतिक और सामाजिक मूल्यों को भी प्रभावित करता है। संविधान के माध्यम से न्यायालयों को यह अधिकार प्राप्त है कि वे विधियों का निर्वचन करें और समय-समय पर उन्हें सामाजिक परिवर्तनों के अनुरूप ढालें। तथापि, जब न्यायालय ऐसे निर्णय देते हैं जो पारंपरिक सामाजिक मान्यताओं और सांस्कृतिक मूल्यों से भिन्न प्रतीत होते हैं, तब एक गंभीर विमर्श उत्पन्न होता है—क्या न्यायालय केवल सांविधानिक मूल्यों के प्रति उत्तरदायी हैं या उन्हें समाज के पारंपरिक नैतिक मूल्यों को भी समान महत्व देना चाहिए?

<sup>1</sup> संकायाध्यक्ष, विधि-संकाय, डॉ० राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या

<sup>2</sup> विधि-संकाय, डॉ० राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या

विवाह संस्था भारतीय समाज की मूल इकाई मानी जाती रही है। यह केवल एक कानूनी अनुबंध नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक और धार्मिक बंधन भी है, जिसमें पारस्परिक निष्ठा, प्रतिबद्धता और विश्वास को सर्वोपरि माना गया है। ऐसे में जब न्यायालय यह घोषित करता है कि विवाहेत्तर संबंध अपराध नहीं हैं, तब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या यह निर्णय भारतीय समाज की नैतिक संरचना के अनुरूप है या उससे विचलित?

इसी संदर्भ में आचार्य मिथिलेश नंदनी शरण का कथन अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है, जो इस विमर्श को एक गहन दार्शनिक आधार प्रदान करता है।

### सांविधानिक मूल्य और मानवीय मूल्य: एक वैचारिक विमर्श

आचार्य मिथिलेश नंदनी शरण का कथन इस शोध का केंद्रीय आधार है, जिसे यहाँ यथावत प्रस्तुत किया जा रहा है—

"सांविधानिक ढांचा है, संविधान की सीमाएं हैं पर सांविधानिक मूल्यों से क्या मानव मूल्य बड़े नहीं हैं? और क्या न्यायालयों को बड़े महत्व के निर्णयों में सांविधानिक मूल्यों की सीमा में मानवीय मूल्यों को प्राथमिक रखना चाहिए? मैं एक उदाहरण लेता हूँ। एक निर्णय है जिसमें कहा गया है कि विवाहोपरांत विवाहेत्तर यौन संबंध अपराध नहीं होंगे। ऐच्छिक अनैच्छिक का विवरण तो बड़ा जटिल है, हम उसमें जा नहीं सकते। हम केवल एक बात पर एकाग्र हैं। भारत देश, इसी देश में जन्मे हुए लोग पढ़ लिख करके, इसी के इतिहास, पुराण और भूगोल से निकल करके न्यायाधीश बनते हैं और न्यायालय निर्णय देता है कि विवाहोपरांत विवाहेत्तर यौन संबंध वैध हैं। एक देश जिसकी कथाएं, जिसके लोकगीत, जिसकी परंपराएं, जिसके व्रत उपवास पति पत्नी की चारित्रिक प्रतिबद्धता में ही पीढ़ियों से चले आ रहे हैं। जिस देश में करवा चौथ करके पति के सौभाग्य और आयु की कामना की जाती है, जिस देश में सत्यवान और सावित्री की कथा कह करके असंख्य स्त्रियां पीढ़ियों से वट सावित्री का पूजन करती चली आई हैं। जिस देश में एक पत्नी व्रत और पतिव्रत होने की कथाएं भरी पड़ी हैं, उस देश के न्यायालय विवाह के उपरांत पति पत्नी को विवाहेत्तर यौन संबंधों के वैध होने की अनुमति देते हैं। यह क्या बताता है कि न्यायालय कोई एक ऐसी संस्था है जो इस देश के ही अन्न से, जल से, वायु, वातावरण से, इसके इतिहास, भूगोल और विश्वास से जुड़ा हुआ ही नहीं है। इसका अर्थ है यह सांविधानिक मूल्य ज्यादा बड़े हैं, मानवीय मूल्य छोटे हैं, संस्कृति छोटी है, तकनीक बड़ी है। धाराओं की न्यायालय की आलोचना के संबंध में नहीं कह रहा हूँ मैं। मैं कह रहा हूँ इस अर्थ में कि इन सांविधानिक मूल्यों से भारत अपनी भारतीयता को परिभाषित करने कहां जाएगा? और क्या हमारी राष्ट्रीयता, क्या हमारी सांस्कृतिक परंपरा आभासी नहीं हो जाएगी? और क्या यह न्याय होगा? परस्परता, संबंधों की पवित्रता और कमिटमेंट कहां रहेगा? हम इतिहास पुराण जाने दें। हमारी फिल्मों में अधिकांश फिल्मों में जो परस्परता का क्लेम है वह एक दूसरे के प्रति ईमानदार होने का है और पति पत्नी परस्पर एक दूसरे के साथ रहते हुए भी एक दूसरे से अन्य यौन संबंधों के प्रति वैध रूप से स्वतंत्र हैं। इस बात को यदि संविधान मान्यता देगा तो हमारे पारिवारिक और चारित्रिक मूल्य कहां जाएंगे? इन अर्थों में देखेंगे तब आपको लगेगा कि न्यायालय न्यायालय कम निर्णयालय अधिक हो गए।"



यह कथन भारतीय न्यायिक विमर्श के उस द्वंद्व को उजागर करता है, जहाँ सांविधानिक उदारवाद और पारंपरिक नैतिकता आमने-सामने खड़े दिखाई देते हैं। आचार्य का मूल प्रश्न यह है कि क्या सांविधानिक मूल्य, जो समय के साथ परिवर्तित होते रहते हैं, उन मानवीय और सांस्कृतिक मूल्यों से ऊपर रखे जा सकते हैं जो सदियों से समाज की आधारशिला रहे हैं।

इस कथन का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट होता है कि लेखक न्यायालयों के निर्णयों में एक प्रकार की वैचारिक दूरी का संकेत करते हैं। उनका तर्क यह है कि न्यायाधीश, जो उसी समाज का हिस्सा हैं, उसके सांस्कृतिक और नैतिक ताने-बाने से जुड़े होने के बावजूद ऐसे निर्णय देते हैं जो उस परंपरा के विपरीत प्रतीत होते हैं। यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि क्या न्यायपालिका को केवल सांविधानिक निर्वचन तक सीमित रहना चाहिए या उसे समाज के सांस्कृतिक संदर्भों को भी ध्यान में रखना चाहिए?

आचार्य द्वारा प्रस्तुत उदाहरण—विवाहेत्तर संबंधों का अपराधमुक्तिकरण—इस द्वन्द्व को स्पष्ट रूप से दर्शाता है। भारतीय समाज में विवाह को एक पवित्र संस्था माना गया है, जिसमें निष्ठा और समर्पण का विशेष महत्व है। ऐसे में जब न्यायालय इस प्रकार के संबंधों को अपराध की श्रेणी से बाहर कर देता है, तो यह पारंपरिक नैतिकता के विरुद्ध एक कदम प्रतीत होता है।

हालाँकि, दूसरी ओर यह भी तर्क दिया जा सकता है कि संविधान व्यक्ति की स्वतंत्रता और गरिमा की रक्षा करता है, और किसी भी व्यक्तिगत संबंध को आपराधिक दायरे में लाना व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उल्लंघन हो सकता है। इस प्रकार, यहाँ एक स्पष्ट टकराव दिखाई देता है—एक ओर व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सांविधानिक अधिकार, और दूसरी ओर सामाजिक नैतिकता और सांस्कृतिक परंपरा।

आचार्य का यह भी कहना है कि यदि न्यायालय केवल सांविधानिक मूल्यों को ही प्राथमिकता देगा, तो भारतीयता की परिभाषा क्या होगी? यह प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह केवल विधिक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और दार्शनिक विमर्श का भी विषय है। यदि समाज की पारंपरिक संरचनाएँ कमजोर होती हैं, तो उसका प्रभाव केवल व्यक्तिगत स्तर पर नहीं, बल्कि सामूहिक स्तर पर भी पड़ सकता है।

इस संदर्भ में यह विचारणीय है कि न्यायपालिका को एक संतुलन स्थापित करना होगा, जहाँ वह न तो पूरी तरह पारंपरिक नैतिकता के अधीन हो और न ही केवल सांविधानिक उदारवाद की ओर झुकी रहे। यह संतुलन ही न्यायिक विवेक का वास्तविक परीक्षण है।

### **विवाहेत्तर संबंध और भारतीय न्यायपालिका का दृष्टिकोण**

भारतीय दंड संहिता की धारा 497, जो विवाहेत्तर संबंधों को अपराध मानती थी, को उच्चतम न्यायालय द्वारा निरस्त कर दिया गया। इस निर्णय के पीछे मुख्य तर्क यह था कि यह प्रावधान लैंगिक समानता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और गरिमा के विरुद्ध है। न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि राज्य को व्यक्तियों के निजी जीवन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, जब तक कि वह सार्वजनिक व्यवस्था को प्रभावित न करे।

परंतु इस निर्णय ने समाज में एक व्यापक बहस को जन्म दिया। एक ओर इसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता की विजय के रूप में देखा गया, वहीं दूसरी ओर इसे पारंपरिक नैतिकता और पारिवारिक मूल्यों के लिए एक चुनौती माना गया। आचार्य मिथिलेश नंदनी शरण का कथन इसी बहस का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें न्यायालय के निर्णयों की आलोचना नहीं, बल्कि उनके सामाजिक प्रभावों पर चिंतन प्रस्तुत किया गया है।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि अपराधमुक्तिकरण का अर्थ वैधता प्रदान करना नहीं है, बल्कि केवल यह है कि उस कृत्य को आपराधिक दंड के दायरे से बाहर कर दिया गया है। फिर भी, सामाजिक दृष्टिकोण से यह परिवर्तन एक महत्वपूर्ण संकेत देता है, जो धीरे-धीरे सामाजिक मान्यताओं को प्रभावित कर सकता है।

उपरोक्त वैचारिक विमर्श को और अधिक स्पष्टता प्रदान करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उस प्रमुख न्यायिक निर्णय का विश्लेषण किया जाए, जिसने विवाहेत्तर संबंधों को अपराध की श्रेणी से बाहर कर इस पूरे विवाद को जन्म दिया। इस संदर्भ में उच्चतम न्यायालय का निर्णय *जोशेफ शाइन बनाम भारत संघ (2018)* विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसने सांविधानिक उदारवाद और पारंपरिक नैतिकता के मध्य द्वंद्व को प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत किया।

भारतीय उच्चतम न्यायालय का निर्णय *जोशेफ शाइन बनाम भारत संघ (2018)* सांविधानिक उदारवाद की अभिव्यक्ति का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है, जिसमें न्यायालय ने भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 497 को असांविधानिक घोषित करते हुए विवाहेत्तर संबंधों को अपराध की श्रेणी से बाहर कर दिया। यह निर्णय केवल एक दंडात्मक प्रावधान को निरस्त करने तक सीमित नहीं था, बल्कि इसने विधि, नैतिकता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बीच संबंधों को पुनर्परिभाषित करने का कार्य किया। न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि किसी भी व्यक्ति के निजी और सहमति आधारित संबंधों में राज्य का हस्तक्षेप सीमित होना चाहिए, और ऐसे संबंधों को आपराधिक दंड के माध्यम से नियंत्रित करना संविधान के मूल सिद्धांतों के विपरीत है।

इस निर्णय में न्यायालय ने धारा 497 की संरचना का गहन विश्लेषण करते हुए यह पाया कि यह प्रावधान मूलतः पितृसत्तात्मक सोच पर आधारित था, जिसमें महिला को एक स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में नहीं, बल्कि पुरुष की संपत्ति के रूप में देखा गया था। इस धारा के अंतर्गत केवल पुरुष को दंडित किया जाता था और महिला को दंड से मुक्त रखा जाता था, जिससे यह स्पष्ट होता है कि विधि में लैंगिक समानता का अभाव था। न्यायालय ने इसे अनुच्छेद 14 के तहत समानता के अधिकार का उल्लंघन माना और यह कहा कि इस प्रकार का वर्गीकरण न तो तर्कसंगत है और न ही सांविधानिक रूप से उचित।

इसके अतिरिक्त न्यायालय ने यह भी प्रतिपादित किया कि धारा 497 व्यक्ति की गरिमा और निजता के अधिकार का अतिक्रमण करती है, जो अनुच्छेद 21 के अंतर्गत संरक्षित है।

के. एस. पुट्टस्वामी बनाम भारत संघ (2017) के निर्णय का संदर्भ लेते हुए न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि निजता का अधिकार व्यक्ति के जीवन का एक अभिन्न अंग है, जिसमें उसकी यौनिकता और व्यक्तिगत संबंध भी शामिल हैं। अतः राज्य को यह अधिकार नहीं है कि वह सहमति से स्थापित निजी संबंधों को अपराध घोषित करे। इस प्रकार न्यायालय ने व्यक्तिगत स्वायत्तता को उच्चतम स्थान देते हुए यह सिद्ध किया कि संविधान व्यक्ति को अपने जीवन के महत्वपूर्ण निर्णय स्वयं लेने की स्वतंत्रता प्रदान करता है।

हालाँकि न्यायालय ने यह भी स्वीकार किया कि विवाहेत्तर संबंध नैतिक दृष्टि से अनुचित हो सकते हैं और वे वैवाहिक संबंधों में तनाव तथा विघटन का कारण बन सकते हैं, परंतु केवल नैतिकता के आधार पर किसी कृत्य को अपराध घोषित नहीं किया जा सकता। न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि विधि और नैतिकता के बीच एक सीमांकन आवश्यक है, और हर अनैतिक कृत्य को आपराधिक दंड के अधीन लाना विधि का उद्देश्य नहीं हो सकता। इस प्रकार, न्यायालय ने एक महत्वपूर्ण सिद्धांत स्थापित किया कि विधि का कार्य नैतिकता को लागू करना नहीं, बल्कि संविधान के मूल्यों की रक्षा करना है।

इस निर्णय का विश्लेषण आचार्य मिथिलेश नंदनी शरण के विचारों के संदर्भ में अत्यंत रोचक और महत्वपूर्ण हो जाता है। आचार्य ने जिस प्रकार यह प्रश्न उठाया है कि क्या सांविधानिक मूल्यों से मानव और सांस्कृतिक मूल्य बड़े नहीं हैं, वह इस निर्णय के प्रभावों पर एक गंभीर विमर्श प्रस्तुत करता है। न्यायालय ने जहाँ व्यक्तिगत स्वतंत्रता और गरिमा को प्राथमिकता दी, वहीं आचार्य का दृष्टिकोण यह संकेत करता है कि इस प्रकार के निर्णय भारतीय समाज की पारंपरिक संरचना, विशेषतः विवाह संस्था, पर दीर्घकालिक प्रभाव डाल सकते हैं। उनके अनुसार, यदि संबंधों की पवित्रता और प्रतिबद्धता को विधिक संरक्षण नहीं मिलेगा, तो समाज में विश्वास और नैतिकता का हास हो सकता है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण द्वंद्व स्पष्ट रूप से उभरता है—एक ओर सांविधानिक उदारवाद, जो व्यक्ति की स्वतंत्रता को सर्वोपरि मानता है, और दूसरी ओर पारंपरिक नैतिकता, जो सामाजिक स्थिरता और सांस्कृतिक निरंतरता पर आधारित है। जोशेफ शाइन का निर्णय इस द्वंद्व में सांविधानिक उदारवाद की विजय को दर्शाता है, परंतु यह भी सत्य है कि इसने समाज में एक वैचारिक असंतुलन की स्थिति उत्पन्न कर दी है, जहाँ विधि और सामाजिक मान्यताओं के बीच दूरी बढ़ती हुई प्रतीत होती है।

इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि न्यायालय ने विधिक दृष्टि से एक प्रगतिशील और तार्किक निर्णय दिया, परंतु इसके सामाजिक प्रभावों को लेकर चिंतन आवश्यक है। आचार्य मिथिलेश नंदनी शरण का यह कथन कि “न्यायालय न्यायालय कम निर्णयालय अधिक हो गए” इसी चिंता को अभिव्यक्त करता है कि कहीं न्यायिक निर्णय केवल विधिक तर्कों तक सीमित न रह जाँएँ और समाज की वास्तविकताओं से कट न जाँएँ। अतः आवश्यकता इस बात की है कि न्यायपालिका सांविधानिक मूल्यों की निर्वचन करते समय सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों को भी ध्यान में रखे, जिससे एक संतुलित और समावेशी न्यायिक दृष्टिकोण विकसित हो सके।

अंततः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जोशेफ शाइन बनाम भारत संघ का निर्णय भारतीय विधि व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन का प्रतीक है, जिसने व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सुदृढ़ किया, परंतु साथ ही यह प्रश्न भी उठाया कि क्या यह स्वतंत्रता सामाजिक उत्तरदायित्व और नैतिकता के साथ संतुलित है। यही प्रश्न आपके शोध पत्र के केंद्रीय विमर्श को और अधिक गहराई प्रदान करता है।

### **सांविधानिक उदारवाद का दार्शनिक आधार और उसकी सीमाएँ**

सांविधानिक उदारवाद आधुनिक लोकतांत्रिक शासन प्रणाली का एक केंद्रीय सिद्धांत है, जिसका मूल उद्देश्य व्यक्ति की स्वतंत्रता, गरिमा, समानता और स्वायत्तता की रक्षा करना है। भारतीय संविधान में यह सिद्धांत मौलिक अधिकारों के माध्यम से

अभिव्यक्त होता है, विशेषतः अनुच्छेद 14, 19 और 21 के अंतर्गत। न्यायपालिका ने समय-समय पर इन प्रावधानों की व्यापक निर्वचन करते हुए व्यक्तिगत स्वतंत्रता के दायरे को विस्तृत किया है, जिसमें निजता का अधिकार, गरिमा का अधिकार और व्यक्तिगत संबंधों की स्वतंत्रता को भी शामिल किया गया है।

विवाहेत्तर संबंधों के अपराधमुक्तिकरण के संदर्भ में न्यायालय ने इसी सांविधानिक उदारवाद को आधार बनाया। न्यायालय का दृष्टिकोण यह था कि राज्य को व्यक्तियों के निजी और सहमति आधारित संबंधों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस प्रकार, न्यायालय ने व्यक्ति की स्वायत्तता को सामाजिक नैतिकता से ऊपर स्थान दिया।

परंतु सांविधानिक उदारवाद का यह निर्वचन पूर्णतः निर्विवाद नहीं है। आचार्य मिथिलेश नंदनी शरण के कथन के आलोक में यह प्रश्न उठता है कि क्या व्यक्ति की स्वतंत्रता को इस हद तक विस्तारित किया जा सकता है कि वह सामाजिक संरचना और पारिवारिक संस्था को प्रभावित करने लगे? यदि हर व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान कर दी जाए, तो क्या समाज में संबंधों की स्थिरता और विश्वास बना रह सकेगा?

सांविधानिक उदारवाद की एक प्रमुख सीमा यह है कि यह अक्सर व्यक्ति-केंद्रित होता है और सामूहिक हितों या सांस्कृतिक मूल्यों को द्वितीयक स्थान पर रखता है। भारतीय समाज, जो एक सामूहिक और पारिवारिक संरचना पर आधारित है, वहाँ यह दृष्टिकोण कई बार सामाजिक असंतुलन उत्पन्न कर सकता है। अतः यह आवश्यक है कि सांविधानिक उदारवाद को भारतीय सामाजिक संदर्भ में पुनःपरिभाषित किया जाए, जिससे वह न केवल व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा करे, बल्कि सामाजिक समरसता को भी बनाए रखे।

### **पारंपरिक नैतिकता की विधिक प्रासंगिकता**

पारंपरिक नैतिकता भारतीय समाज की आत्मा के समान है, जो सदियों से विकसित होकर आज की सामाजिक संरचना का आधार बनी है। यह केवल धार्मिक या सांस्कृतिक मान्यताओं तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक व्यवहार, पारिवारिक संबंधों और व्यक्तिगत आचरण को भी नियंत्रित करती है। विवाह संस्था इसका एक प्रमुख उदाहरण है, जहाँ निष्ठा, प्रतिबद्धता और विश्वास को उच्चतम मूल्य माना गया है।

विधिक दृष्टिकोण से यह प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण है कि क्या पारंपरिक नैतिकता को विधि का आधार बनाया जा सकता है। आधुनिक विधिशास्त्र सामान्यतः यह मानता है कि विधि को नैतिकता से पृथक रखा जाना चाहिए, विशेषतः तब जब नैतिकता व्यक्तिगत या सांस्कृतिक विविधताओं पर आधारित हो। परंतु भारतीय संदर्भ में यह विभाजन इतना स्पष्ट नहीं है।

भारतीय न्यायपालिका ने कई अवसरों पर पारंपरिक नैतिकता को ध्यान में रखते हुए निर्णय दिए हैं, विशेषतः पारिवारिक कानूनों के क्षेत्र में। उदाहरण के लिए, विवाह, तलाक, भरण-पोषण और उत्तराधिकार से संबंधित मामलों में न्यायालयों ने सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों को महत्व दिया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पारंपरिक नैतिकता को पूरी तरह से विधिक विमर्श से अलग नहीं किया जा सकता।



आचार्य मिथिलेश नंदनी शरण के कथन में यह चिंता स्पष्ट रूप से व्यक्त की गई है कि यदि पारंपरिक नैतिकता को न्यायिक निर्णयों में स्थान नहीं दिया गया, तो समाज की मूल संरचना कमजोर हो सकती है। उनका यह तर्क कि “परस्परता, संबंधों की पवित्रता और प्रतिबद्धता कहां रहेगी?” एक गहरे सामाजिक संकट की ओर संकेत करता है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि पारंपरिक नैतिकता स्थिर नहीं होती, बल्कि समय के साथ विकसित होती है। अतः न्यायालयों का यह दायित्व है कि वे इस विकासशील नैतिकता को समझें और उसे सांविधानिक मूल्यों के साथ संतुलित करें।

### **न्यायिक दृष्टिकोण का आलोचनात्मक विश्लेषण**

भारतीय उच्चतम न्यायालय द्वारा विवाहेत्तर संबंधों को अपराध की श्रेणी से बाहर करना एक ऐतिहासिक निर्णय था, जिसने विधि और समाज दोनों में व्यापक प्रभाव डाला। इस निर्णय में न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि धारा 497 न केवल लैंगिक भेदभाव पर आधारित थी, बल्कि यह महिला को एक वस्तु के रूप में प्रस्तुत करती थी, जो पुरुष की संपत्ति के समान है।

न्यायालय का यह तर्क विधिक दृष्टि से सशक्त है, क्योंकि संविधान समानता और गरिमा की रक्षा करता है। परंतु इस निर्णय की आलोचना इस आधार पर की गई कि न्यायालय ने सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभावों को पर्याप्त महत्व नहीं दिया। आचार्य मिथिलेश नंदनी शरण का कथन इसी आलोचना का प्रतिनिधित्व करता है।

उनका यह कहना कि “न्यायालय न्यायालय कम निर्णयालय अधिक हो गए” एक गंभीर टिप्पणी है, जो यह संकेत करती है कि न्यायालयों के निर्णयों में संवेदनशीलता और सामाजिक समझ का अभाव हो सकता है। यह कथन न्यायपालिका की आलोचना नहीं, बल्कि उसके दायित्वों की पुनर्समीक्षा का आह्वान है।

वास्तव में, न्यायालयों के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह है कि वे सांविधानिक मूल्यों और सामाजिक नैतिकता के बीच संतुलन स्थापित करें। यदि न्यायालय केवल सांविधानिक उदारवाद पर आधारित निर्णय देंगे, तो वे समाज से कटे हुए प्रतीत हो सकते हैं। वहीं यदि वे केवल पारंपरिक नैतिकता का अनुसरण करेंगे, तो वे प्रगतिशीलता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बाधित कर सकते हैं।

### **संतुलन की आवश्यकता: एक समन्वित दृष्टिकोण**

इस समूचे विमर्श का सार यह है कि सांविधानिक उदारवाद और पारंपरिक नैतिकता के बीच कोई एक को पूर्णतः सही या गलत नहीं ठहराया जा सकता। दोनों के अपने-अपने महत्व और सीमाएँ हैं। अतः आवश्यकता एक ऐसे समन्वित दृष्टिकोण की है, जिसमें दोनों के बीच संतुलन स्थापित किया जा सके।

न्यायपालिका को यह समझना होगा कि संविधान केवल एक विधिक दस्तावेज नहीं है, बल्कि यह समाज की आकांक्षाओं और मूल्यों का भी प्रतिबिंब है। अतः उसका निर्वचन करते समय सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है।



साथ ही, यह भी आवश्यक है कि समाज पारंपरिक नैतिकता को समय के साथ विकसित होने दे और उसे कठोर रूप में न थोपे। यदि समाज और न्यायपालिका दोनों एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास करें, तो एक संतुलित और समरस विधिक व्यवस्था का निर्माण संभव है।

## निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि विवाहेत्तर संबंधों के अपराधमुक्तिकरण ने भारतीय विधि व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण विमर्श को जन्म दिया है, जो सांविधानिक उदारवाद और पारंपरिक नैतिकता के मध्य संतुलन से संबंधित है। आचार्य मिथिलेश नंदनी शरण के विचार इस विमर्श को एक गहन सामाजिक और दार्शनिक आयाम प्रदान करते हैं।

उनका यह प्रश्न कि क्या मानवीय और सांस्कृतिक मूल्य सांविधानिक मूल्यों से बड़े नहीं हैं, हमें यह सोचने के लिए प्रेरित करता है कि न्यायिक निर्णय केवल विधिक तर्कों पर आधारित नहीं होने चाहिए, बल्कि उनमें सामाजिक संवेदनशीलता और सांस्कृतिक समझ भी होनी चाहिए।

अंततः यह कहा जा सकता है कि न्यायपालिका का दायित्व केवल विधि का निर्वचन करना नहीं है, बल्कि समाज के मूल्यों और आकांक्षाओं के साथ सामंजस्य स्थापित करना भी है। यही संतुलन भारतीय विधि व्यवस्था को सुदृढ़ और प्रासंगिक बनाए रखेगा।

## संदर्भ

भारत का संविधान, 1950 (विशेषतः अनुच्छेद 14, 19, 21)।

जोशेफ शाइन बनाम भारत संघ, (2018) 2 SCC 189।

भारतीय दंड संहिता, 1860 (धारा 497 – अब निरस्त)।

के. एस. पुट्टस्वामी बनाम भारत संघ, (2017) 10 SCC 1 (निजता का अधिकार)।

नवतेज सिंह जौहर बनाम भारत संघ, (2018) 10 SCC 1।

डॉ. दुर्गादास बसु, भारत का संविधान: एक परिचय, लेक्सिसनेक्सिस, नवीनतम संस्करण।

एम. पी. जैन, भारतीय सांविधानिक विधि, लेक्सिसनेक्सिस, नवीनतम संस्करण।

वी. एन. शुक्ला, भारतीय संविधान का निर्वचन, ईस्टर्न बुक कंपनी, लखनऊ।

उपेन्द्र बक्षी, भारतीय न्यायपालिका और सामाजिक परिवर्तन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

आचार्य मिथिलेश नंदनी शरण, भारतीय संस्कृति और नैतिक मूल्य, (प्रासंगिक निर्वचन/लेख)।

डॉ. राम जेठमलानी, न्याय, नैतिकता और विधि, यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग।

ग्रानविल ऑस्टिन, भारतीय संविधान: राष्ट्र का आधार, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

अमर्त्य सेन, द आइडिया ऑफ जस्टिस (हिंदी अनुवाद उपलब्ध)।



प्रो. एन. आर. माधव मेनन, भारतीय विधि व्यवस्था और सामाजिक न्याय, (विभिन्न लेख/निर्वचनन)।